विक्रम संवाद

पाक्षिक आलेख सेवा/नि:शुल्क वितरण के लिए

सम्पादक

महाराजा विक्रमादित्य शोध पीठ

1, उदयन मार्ग, उज्जैन-456010

फोन : 0734-2521499, 0755-2660407

Email : mvspujjain@gmail.com
vikramadityashodhpeeth@gmail.com

Web : www.mvspujjain.com

इस अंक में

पृष्ठ क्र. 1-2

प्राचीन सभ्यता और शिक्षा पद्धति
मिथिलेश यादव

पृष्ठ क्र. 3-4

प्रहसन की भारतीय परंपरा
पी. नागेन्द्र कुमार

पृष्ठ क्र. 5-6

तक्षशिला अतीत की महान धरोहर
विजय परिहार

पृष्ठ क्र. 7

भारतीय परंपरा और यक्षिण
ईशान अवस्थी

पृष्ठ क्र. 8

महाराजा विक्रमादित्य सीनियर एवं जूनियर फैलोशिप की जानकारी

प्राचीन सभ्यता और शिक्षा पद्धति

मिथिलेश यादव

प्राचीन भारतीय सभ्यता विश्व की सर्वाधिक रोचक तथा महत्वपूर्ण सभ्यताओं में से एक है। इस सभ्यता के समुचित ज्ञान के लिए हमें इसकी शिक्षा पद्धति का अध्ययन करना आवश्यक है, जिसने इस सभ्यता को चार हजार वर्षों से भी अधिक समय तक सुरक्षित रखा। प्राचीन भारतीयों ने शिक्षा को अत्यधिक महत्व प्रदान किया। भौतिक तथा आध्यात्मिक उत्थान तथा विभिन्न उत्तरदायित्वों के विधिवत निर्वाह के लिए शिक्षा की महती आवश्यकता को सदा स्वीकार किया गया जो मानव जीवन के विभिन्न क्षेत्रों को आलोकित करते हुए उसे सही दिशा–निर्देश देता है। भारत की प्राचीन संस्कृति धर्मप्राण रही है। अतः शिक्षा पद्धति भी धर्म से प्रभावित थी तथा उसका एक प्रमुख उद्देश्य विद्यार्थियों में निष्ठा एवं धार्मिकता की भावना जाग्रत करना था। वैदिक युग में शिक्षा की गुरुकुल पद्धति प्रचलित थी जिसमें गुरु के आश्रम में रहकर शिक्षा प्राप्त की जाती थी। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, उपनयन संस्कार के बाद गुरु के आश्रम में प्रवेश करते थे जहाँ लगभग चौबीस वर्ष तक शिक्षा ग्रहण करते थे। वैदिक युग में शिक्षा का माध्यम मौखिक था अर्थात् गुरु द्वारा कहे गये वचनों को छात्रों द्वारा बार–बार दोहराया जाता था। वैदिक शिक्षा केन्द्रों में विद्यार्थी वेद, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, ब्रह्मविद्या आदि का अध्ययन करते थे। प्राचीन भारतीय समाज में गुरु को अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। गुरु–शिष्य अत्यन्त मधुर एवं सौहार्दपूर्ण थे। वैदिक युग में आचार्य तथा शिष्य के मध्य सीधा संबंध होता था। प्राचीन भारतीय शिक्षा में शुल्क प्रदान करने का कोई निश्चित नियम नहीं था। प्रायः शिक्षा निःशुल्क दी जाती थी। शिक्षा प्रदान करना विद्वानों एवं आचार्यों का पुनीत कर्तव्य माना जाता था। परंतु राज्य तथा समाज का यह कर्तव्य था कि वह अध्ययन–अध्यापन करने वाले विद्वानों के निर्वाह की उचित व्यवस्था करें। इस उद्देश्य से शासक तथा कुलीन लोग शिक्षण संस्थाओं को भूमि तथा धन आदि दान में देते थे। वैदिक युग में आधुनिक युग की भाँति परीक्षा लेने तथा उपाधियाँ प्रदान करने की प्रथा का अभाव था। विद्यार्थी गुरु के सीधे सम्पर्क में रहते थे। अध्ययन की समाप्ति पर समावर्तन नामक संस्कार आयोजित होता था। वहाँ छात्र से विद्वत मण्डली द्वारा उसके अध्ययन से संबंधित गूढ़ प्रश्न पूछे जाते थे। तदनन्तर वह स्नातक बन जाता था। वैदिक युग में स्त्रियों को भी शिक्षा प्रदान की जाती थी। गार्गी, लोपामुद्रा, मैत्रेयी आदि विदुषी महिलाओं द्वारा वाद–विवाद में भाग लेना एवं विभिन्न ऋचाओं की रचना इसका प्रमाण है। उत्तर वैदिक युग में ब्राह्मण ग्रंथ लिखे गये तथा ये शिक्षा का विषय बन गये। उपनिषद तथा सूत्रों के युग में वैदिक मंत्रों के शुद्ध उच्चारण पर बल दिया गया। वैदिक साहित्य के अध्ययन को सरल बनाने के निमित्त छः वेदांगों की रचना हुई। सूत्र युग के अंत तक आते आते वैदिक साहित्य का अध्ययन कम हो गया तथा उसके स्थान पर विभिन्न विषयों जैसे दर्शन, धर्मशास्त्र, महाकाव्य, व्याकरण, खगोल विद्या, मूर्तिकला, वैद्यक, पोत निर्माण कला आदि का समावेश हो गया। धार्मिक तथा लौकिक विषयों की शिक्षा में समन्वय स्थापित किया गया। इस युग के स्नातक वेदों तथा 18 शिल्पों में निपुण होते थे। इस कला में भी शिक्षा की पद्धति मौखिक ही थी। कण्ठस्थ करने की विधि पदपाठ, क्रमपाठ, जटापाठ और घनपाठ पर आधारित थी। सम्पूर्ण संसार का जगतगुरु कहलाये जाने वाले भारत की प्राचीन शिक्षा प्रणाली की विशेषता यह थी कि बालक का 6–7 वर्ष की अवस्था में उपनयन संस्कार कर दिया जाता था। यज्ञोपवीत हो जाने पर बालक 25 वर्ष की आयु तक ब्रह्मचर्य धर्म का पालन करते हुए उच्च शिक्षा ग्रहण करता था। ज्ञानार्जन के माध्यम से आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त कर वह गृहस्थ जीवन में प्रवेश कर कर्तव्यों का पालन करते हुए मोक्ष प्राप्ति करता था। विद्यार्थी गुरु के आश्रम में रहकर शिक्षा–दीक्षा पूरी होने पर

स्नातक बनता था, फिर समावर्तन संस्कार होने के बाद अपने गृहस्थ धर्म का पालन करता था। विद्यार्थीकाल में सभी विद्यार्थी भिक्षाटन करते थे। किसी भी वर्ग का विद्यार्थी हो, वह गुरु की परिचर्या करता था। समिधा के लिए लकड़ियाँ लाना, गुरा की गायों को चराना, इन सब नियमों के पालन का उद्देश्य विद्यार्थियों में समानता की भावना के साथ–साथ शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक, चारित्रिक विकास करना था। प्राचीनकाल में गुरु एवं शिष्य का सम्बन्ध भावात्मक होता था। उनका सम्बन्ध पिता एवं पुत्रवत था। शिष्य को गुरु के पहले सोकर उठना होता था। फिर गुरु के सो जाने के बाद उसे सोना होता था। गुरु के आश्रम में अनुशासन एवं कर्तव्य का पूर्ण पालन करना होता था। धनी या निर्धन उनके आहार–विहार तथा रहन–सहन में समानता का ध्यान रखना होता था। गुरुकुल आश्रम प्रणाली की शिक्षा व्यवस्था श्रेष्ठ थी। शिक्षा के विषयों में व्याकरण, गणित, ज्योतिष, भाषा, इतिहास, धर्म, दर्शन, अर्थशास्त्र, कृषि, न्याय, तर्क, चित्र, युद्धकला जैसे विषयों के अध्ययन के साथ–साथ वैदिक मन्त्रों को रटना, पिंगल के नियमों को याद करना सिखाया जाता था। अध्यापन शैली की विशेषता यह थी कि शिष्य गुरु द्वारा पढ़ाये गये विषयों पर चिन्तन, मनन, तर्क किया करते थे। रहस्यात्मक एवं गूढ़ विषयों को शिक्षक की सहायता से समझ लेते थे। मौखिक परीक्षा प्रणाली प्रचलित थी। वाद–विवाद, प्रश्नोत्तर द्वारा विद्यार्थियों की योग्यता एवं क्षमताओं का मूल्यांकन होता था। प्राचीनकालीन शिक्षा में अपाला, घोषा, लोपमुद्रा, विश्ववारा, गार्गी, मैत्रेयी जैसी विदुषी नारियाँ अनेक गूढ़तम विषयों पर शास्त्रार्थ करके अपने पाण्डित्य का परिचय देती थीं। वे वाद–विवाद, तर्क–वितर्क में, यज्ञ तथा कर्मकाण्डों में अपने पतियों के साथ सक्रिय रूप से भाग लेती थीं। प्राचीन भारतीय शिक्षा के केन्द्र–प्राचीनकाल में मठ, विहार, उम्रश्रमों, विद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों को शिक्षा का केन्द्र माना जाता था, जहाँ संस्कृत, पालि भाषा की शिक्षा दी जाती थी। शिक्षा केन्द्रों के संचालन के लिए राजा तथा धनिक वर्ग मुक्त हस्त से दान दिया करते थे। उनके अनुदान से ही शिक्षण संस्थाओं की समूची शिक्षा प्रणाली संचालित होती थी। बुद्ध कालीन शिक्षा के विषय में जानकारी प्राप्त करने के महत्वपूर्ण स्रोत पाली ग्रंथ है। त्रिपिटकों में गुरु शिष्य संबंध, शिक्षा के विषय अध्ययन–अध्यापन का ढंग शुल्क एवं दक्षिणा जैसे शिक्षा के विभिन्न आयामों पर विचार किया गया है। बौद्ध धर्म में चरित्र पर विशेष बल दिया गया है। बौद्ध शिक्षा के तीन महत्वपूर्ण लक्षण बताये गये हैं (1) चारित्रिक (2) बौद्धिक एवं (3) आध्यात्मिक

बुद्ध काल तक भारत में लेखन का पूर्ण विकास हो चुका था। किन्तु शिक्षा अधिकांशतः मौखिक ही थी। बुद्ध काल में वैदिक साहित्य के अध्ययन की लोकप्रियता कम हो गई तथा साहित्यिक अध्ययन के साथ–साथ व्यवसाय, उद्योग, चिकित्सा, आखेट, हस्तविद्या, पशु भाषा विज्ञान, विधि, सैन्य विज्ञान, शिल्प आदि की शिक्षा दी जाने लगी। मौर्य काल तक आते–आते शिक्षा का स्वरूप पूर्णतः बुद्ध काल के अनुरूप हो गया। मौर्यकाल में साधारण जनता की भाषा पाली थी तथा संस्कृत शिक्षित समुदाय तथा साहित्य की भाषा थी। मौर्यकाल में तक्षशिला शिक्षा का महत्वपूर्ण केन्द्र था जहाँ सभी विषयों की शिक्षा दी जाती थी। शिक्षा का माध्यम संस्कृत था तथा ब्राह्मी तथा खरोष्ठी दोनों लिपियों का प्रयोग किया जाता था। गुप्तकाल में शिक्षा के क्षेत्र में अभूतपूर्व प्रगति हुई। गुरु अपने शिष्यों को व्यक्तिगत रूप से शिक्षा देते थे। आचार्य, प्रमुख धर्म स्थानों, तीर्थों, नगरों एवं आश्रमों में निवास करते थे। दक्षिणा, राजकीय सहायता आदि से आचार्यों का जीवन निर्वाह होता था। मथुरा, उज्जयिनी, वाराणसी, पाटलिपुत्र, वल्लभी, पद्मावती एवं अयोध्या आदि प्रमुख शिक्षा केन्द्र गुप्तकाल में थे।

वेद शिक्षा के मुख्य पाठ्य विषय थे। इनके अतिरिक्त वेदांग, व्याकरण, पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मव्यवहार आदि भी पाठ्य विषय थे। याज्ञवल्क्य ने वर्णन किया है कि विद्यार्थी के ऊपरी वस्त्र मृगचर्म का और अधोवस्त्र सण या ऊन का होता था उच्च शिक्षण संस्थाओं को 'घटिका' कहते थे। ब्राह्मण व क्षत्रियों में शिक्षा का अधिक प्रचार था। शूद्रों की शिक्षा का प्रबन्ध नहीं था। स्त्री शिक्षा भी कम होती जा रही थी। 'लिपिशाला' प्रारंभिक शिक्षण संस्थाय प्रायः सभी गाँवों में होती थी इन प्रारम्भिक शिक्षकों को 'द्वारकाचार्य' कहते थे। प्राचीन साहित्य में कुछ आश्रमों के उल्लेख भी मिलते हैं जैसे महर्षि भारद्वाज का आश्रम मालिनी नदी के तट पर कण्व, हिमालय पर व्यास का आश्रम, रामायण में चित्रकूट में वाल्मीकि का आश्रम। छठी शताब्दी ई.पू. में बौद्ध धर्म के अन्तर्गत विहारों को केन्द्र बनाकर शिक्षा केन्द्रों का विकास हुआ जैसे कपिलवस्तु का निग्रोधाराम विहार, वैशाली का आम्रवन विहार तथा राजगृह का बेलुवन विहार, श्रावस्ती में अनाथ पिंडक ने जेतवन विहार का निर्माण करवाया था। सातवीं सदी में भी उत्तर भारत में अनेक विहार थे कन्नौज में प्रसिद्ध मद्र विहार थे। कालांतर में मंदिरों, विहारों, मठो के अलावा शिक्षा केन्द्रों के रूप में अनेक विश्वविद्यालय स्थापित हुए जैसे– तक्षशिला काशी, नालंदा, विक्रमशिला, वल्लभी, कांची एवं उदयन्तपुर आदि के बाद जहाँ हजारों देशी तथा विदेशी विद्यार्थी दूर–दूर से आकर शिक्षा प्राप्त करते थे।

प्रहसन की भारतीय परंपरा

पी. नागेन्द्र कुमार

भारतीय काव्यशास्त्र में प्रहसन के स्वरूप–विवेचन पर पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है। भरतमुनि ने इसके दो भेद किए हैं– शुद्ध प्रहसन और संकीर्ण प्रहसन। रूपक का वह भेद जिसमें तापस, सन्यासी, पुरोहित, भिक्षु, श्रोत्रिय आदि नायकों और नीच प्रकृति के अन्य व्यक्तियों के मध्य परिहास चर्चा होती है, प्रहसन कहलाता है। निकृष्ट श्रेणी के पात्रों का परिहासपूर्ण अभिनय संकीर्ण प्रहसन के अंतर्गत आता है। धनंजय तथा शारदातनय ने भी लगभग इसी आधार पर प्रहसन के तीन भेज किए हैं– शुद्ध, वैकृत (विकृत), संकर। इधर कुछ नए लेखकों ने परंपरा से भिन्न चरित्र प्रधान, परिस्थिति प्रधान, कथोपकथन प्रधान और विदूषक प्रधान भेदों का उल्लेख कर प्रहसन का नवीन वर्गीकरण प्रस्तुत किया है।

काव्य को मुख्यतः दो वर्गो में विभक्त किया गया है– श्रव्य काव्य और दृश्य काव्य। श्रव्य काव्य के अंतर्गत साहित्य की वे सभी विधाएँ आती हैं जिनकी रसानुभूति श्रवण द्वारा होती है जब कि दृश्य काव्य का वास्तविक आनंद मुख्यतया नेत्रों के द्वारा प्राप्त किया जाता है अर्थात् अभिनय उसका व्यावर्तक धर्म है। भरतमुनि ने दृश्य काव्य के लिये 'नाट्य' शब्द का व्यवहार किया है। आचार्यों ने 'नाट्य' के दो रूप माने हैं– रूपक तथा उपरूपक। इन दोनों के पुनः अनेक उपभेद किए गए हैं। रूपक के दस भेद हैय प्रहसन इन्हीं में से एक है– नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग, समवकार, डिम, ईहामून, अंक, वीथी, प्रहसन। हास्य रस का स्थायी भाव हास है। 'साहित्यदर्पण' में कहा गया है– 'बागादिवैकृतैश्चेतोविकासो हास इष्यते', अर्थात वाणी, रूप आदि के विकारों को देखकर चित्त का विकसित होना 'हास' कहा जाता है। प्रहसन रूपक के बारह प्रकारों में से एक को संदर्भित करता है, जो काव्य के दृश्यकाव्य विभाजन का प्रतिनिधित्व करता है, विष्णुधर्मोत्तरपुराण के अनुसार, एक प्राचीन संस्कृत पाठ जो (प्रकृति में विश्वकोश होने के नाते) विभिन्न सांस्कृतिक विषयों से संबंधित है जैसे कला, स्थापत्य, संगीत, व्याकरण और खगोल विज्ञान। विष्णुधर्मोत्तरपुराण के अनुसार, प्रहसन हास्यपूर्ण विवादों से भरा होना चाहिए और इसमें केवल एक ही कार्य होना चाहिए और चरित्र मूल रूप से यहाँ देखे जाते हैं। नाट्यशास्त्र में प्राहासन के दो रूपों को स्वीकार किया गया है। एक होता है शुद्ध यानी शुद्ध प्रकार का प्रहसन जिसमें भागवत, तपस, भिक्षु, श्रोत्रिय, विप्र आदि जैसे कुछ नामित व्यक्तियों की कुछ हास्यपूर्ण बातचीत शामिल है। दूसरा है संकीर्ण यानी मिश्रित प्रकार का प्रहसन जहाँ नौकर, किन्नर, विता और चालाक और अपवित्र महिलाएं नजर आती हैं। उनके भद्दे रूप, पहनावे और चाल–चलन के साथ प्रहसन की कथा प्रायः काल्पनिक होती है और उसमें हास्यरस की प्रधानता रहती है। उसके विविध पात्र अपनी अद्‌भुत चेष्टाओं द्वारा

प्रेक्षकों का मनोरंजन करते हैं। कथाविकास में मुख और निर्वहण संधियों से सहायता ली जाती है तथा प्रवेशक, विष्कंभक आदि का नियोजन नहीं किया जाता। इसकी कथावस्तु प्रायः एक अंक में समाप्त हो जाती है, किंतु शिंगभूपाल आदि आचार्यों के अनुसार इसमें अपवाद स्वरूप दो अंक भी होते हैं। प्रहसन का प्रत्यक्ष प्रयोजन मनोरंजन ही है। किन्तु अप्रत्यक्षतः प्रेक्षक को इससे उपदेश प्राप्ति भी होती है। संस्कृत साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज की समुन्नत स्थिति तथा आदर्शवादी नाटकों के प्रति विशेष अनुराग होने के कारण स्वतंत्र प्रहसनों की रचना बहुत कम हुई। 'सागरकौमुदी', 'सैरंध्रिका', 'कलिकेलि' आदि प्रहसन ही उल्लेखनीय हैं। हाँ, विदूषक के माध्यम से संस्कृत नाटकों में हास्य की सृष्टि अवश्य होती रही। संस्कृत भाषा के नाटककार वत्सराज द्वारा रचित प्रहसन 'हास्यचूड़ामणि' इसका एक उदाहरण है। नाटक की उत्पत्ति के विषय में सर्वाधिक प्राचीन मत हमें भरतमुनि के नाट्य दृशास्त्र के प्रथम अध्याय में उपलब्ध होता है। इस अध्याय का नाम 'नाट्ययोत्पत्ति' है। इसके अनुसार नाटक पंचम वेद है, जिसकी सृष्टि ब्रह्मा ने महेन्द्र सहित देवसमूह की प्रार्थना पर की।

महेन्द्रप्रमुखैर्देवैरुक्तः किल पितामहः।
क्रीडनीयकमिच्छामो दृश्यं श्रव्यचयद्‌भवेत।।

अर्थात इन्द्र जिनका मुखिया था ऐसे देवताओं द्वारा पितामह ब्रह्माजी से कहा गया कि हम ऐसा खेल अथवा खिलौना चाहते हैं जो देखने तथा सुनने दोनों के योग्य हो। यह सुनकर ब्रह्मा

ने चारों वेदों का ध्यानकर ऋग्वेद से पाठ्य सामग्री, सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रसों को ग्रहण करके 'नाट्यवेद' नामक पंचमवेद की सृष्टि की ग्रीक आचार्य प्लेटो ने अपने आदर्शवादी दृष्टिकोण के कारण कॉमेडी में वर्णित हँसी मजाक का तिरस्कार किया है। किन्तु, अरस्तु के अनुसार कॉमेडी के मूलभाव का विषय कोई ऐसी शारीरिक या चारित्रिक या चारित्रिक विकृति होता है जो क्लेशप्रद या सार्वजनिक होता हैय अतः साधारणीकरण की क्षमता के कारण कॉमेडी काव्यकला का मान्य रूप है। कांट आदि दार्शनिकों ने विरोध, असंगति, कुरूपता, बुराई, अप्रत्याशित वर्णन, बुद्धिविलास आदि को कॉमेडी के लिये आवश्यक माना है। वर्ण्यविषय और प्रेक्षकगत प्रभाव के आधार पर पश्चिम में कॉमेडी के अनेक भेदों की प्रकल्पना की गई है जिनमें से 'फार्स' का रूप कुछ कुछ प्रहसन के निकट है। इसमें हास्य के सूक्ष्मतर रूपह्न जैसे शुद्ध विनोद व्यंग्य, आदि की अपेक्षा प्रत्यक्ष शारीरिक विकृतियों पर अधिक बल रहता है। पाश्चात्य प्रहसनकारों में मॉलियार सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं।

भारतीय काव्याचार्यों ने रसों की संख्या प्रायः नौ ही मानी है क्योंकि उनके मत से नौ भाव ही ऐसे हैं जो मनुष्य की मूल प्रवृत्तियों से घनिष्ठतया संबंधित होकर स्थायित्व की पूरी क्षमता रखते हैं और वे ही विकसित होकर वस्तुतः रस संज्ञा की प्राप्ति के अधिकारी कहे जा सकते हैं। यह मान्यता विवादास्पद भी रही है, परंतु हास्य की रसरूपता को सभी से निर्विवाद रूप से स्वीकार किया है। मनोविज्ञान के विशेषज्ञों ने भी हास को मूल प्रवृत्ति के रूप में समुचित स्थान दिया है और इसके विश्लेषण में पर्याप्त मनन चिंतन किया है। इस मनन चिंतन को पौरस्त्य काव्याचार्यों की अपेक्षा पाश्चात्य काव्याचार्यों ने विस्तारपूर्वक अभिव्यक्ति दी है, परंतु फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने इस तत्व का पूरी व्यापकता के साथ अध्ययन कर लिया है और या हास्यरस या हास की काव्यगत अभिव्यंजना की ही कोई ऐसी परिभाषा दे दी है जो सभी सभी प्रकार के उदाहरणों को अपने में समेट सके। भारतीय आचार्यों ने एक प्रकार के सूत्ररूप में ही इसका प्रख्यापन किया है किंतु उनकी संक्षिप्त उक्तियों में पाश्चात्य समीक्षकों के प्रायरू सभी निष्कर्षों और तत्वों का सरलतापूर्वक अंतर्भाव देखा जा सकता है। प्रहसन एक प्रीतिपरक भाव है और चित्तविकास का एक रूप है। उसका उद्रेक विकृत आकार, विकृत वेष, विकृत आचार, विकृत अभिधान, विकृत अलंकार, विकृत अर्थविशेष, विकृत वाणी, विकृत चेष्टा आदि द्वारा होता है– इन विकृतियों से युक्त हास्यपात्रता चाहे अभिनेता की हो, चाहे वक्ता की हो, चाहे अन्य किसी की हो। विकृति का तात्पर्य है प्रत्याशित से विपरीत अथवा विलक्षण कोई ऐसा वैचित्र्य, कोई ऐसा बेतुकापन, जो हमें प्रीतिकर जान पड़े, क्लेशकर न जान पड़े। भारतीय साहित्य पंडितों ने जिस प्रकार शृंगार के साथ न्याय किया है उसका दशमांश भी हास्य के साथ नहीं किया, यद्यपि भरत मुनि ने इसकी उत्पत्ति शृंगार से मानी है अर्थात् इसे रति या प्रीति का परिमाण माना है और इसे शृंगार के बाद ही नवरसों में महत्व का दर्जा दिया है। आनंद के साथ इसका सीधा संबंध है और न केवल रंजनता की दृष्टि से किंतु उपयोगिता की दृष्टि से भी इसकी अपनी विशिष्टता है। यह तन मन के तनाव दूर करता है, स्वभाव की कर्कशता मिटाता है, आत्मनिरीक्षण और आत्मपरिष्कार के साथ ही मीठे ढंग पर समाज सुधार का मार्ग प्रशस्त करता है, व्यक्ति और समाज की थकान दूर कर उनमें ताजगी भरता हुआ जनस्वास्थ्य और लोकस्वास्थ्य का उपकारक बनता है। यह निश्चित है कि संस्कृत साहित्य तथा हिंदी साहित्य में इस हास्यरस के महत्व के अनुपात से इसके उत्तम उदाहरणों की कमी ही है। फिर भी ऐतिहासिक सिंहावलोकन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि साहित्य में हास्यरस का प्रवाह वैदिक काल से लेकर आज तक निरंतर चला आ रहा है। मत्तविलास प्रहसन एक प्राचीन संस्कृत एकांकी नाटक है। यह सातवीं शताब्दी की शुरुआत में विद्वान राजा महेन्द्रवर्मन प्रथम (571– 630 ई.पू.) द्वारा लिखित दो महान् एकांकी नाटकों में से एक है। यह संस्कृत का प्राचीनतम प्रहसन है। यह प्रहसन छोटा होने पर भी बड़ा रोचक है। इसमें मदिरा के नशे में धूत एक कापालिक की मनोदशा का वर्णन है। इस नाटक में धार्मिक आडंम्बरों पर कटाक्ष है तथा बौद्ध तथा कापालिकों की हँसी उड़ाई गयी है। संस्कृत कवि अपनी परम्परा का पोषक होता है। उसकी स्थिति में परिवर्तन उतनी शीघ्रता से नहीं दिखता है जितना अन्य साहित्य में। संस्कृत वांग्मय में काव्य, नाटक, आख्यान, आख्यायिका आदि काव्य के समस्त भेदोपभेद प्रभूत मात्रा में उपलब्ध है। परन्तु बहुत ही अल्प कवियों ने हास्य को अपनी लेखनी का विषय बनाया है। जबकि यह हास्य साहित्य भी स्वाधीनता के लिए तप एवं वैज्ञानिक युग की ज्वलन्त समस्याओं के निदान के प्रति सोच को नया क्षितिज देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। आधुनिक संस्कृत कवियों में ख्यातिलब्ध नवनवोन्मेष शालिनी प्रतिभा के धनी एवं संस्कृत नवगीत परम्परापोषक 'आचार्य प्रशस्यमिश्र शास्त्री' हास्य परम्परा के नितान्त ख्याति प्राप्त कवि है। इनकी अनेक हास्य रचनायें आधुनिक साहित्य अनुरागी विद्वानों में अति प्रसिद्ध हैं। इनकी अनेक रचनाओं में हासविलासः, संस्कृतव्यंग्यविलासः, कोमलकण्टकावलिः, व्यंग्यार्थकौमुदी इत्यादि प्रमुख हैं।

आचार्यों ने हास्य के दो भेद किए हैं। एक है आत्मस्थ और दूसरा है परस्थ। हास्यपात्र की दृष्टि से आत्मस्थ हास्य है स्वतः उस पात्र का हँसना और परस्थ हास्य है दूसरों को हँसाना। सामाजिकों या सहृदय श्रोताओं, अथवा नाट्यदर्शकों की दृष्टि से आत्मस्थ हास्य है अन्यों की हँसी के बिना स्वतः उनमें उद्भुत हास्य और परस्थ हास्य है दूसरों को हँसता हुआ देखकर उनमें उत्पन्न हास्य। दृष्टिकोणों का यह अंतर समझ लेने पर इन दोनों शब्दों के अर्थों का विचार सरलतापूर्वक समाप्त किया जा सकता है। संस्कृत साहित्य में विलास–संज्ञक काव्यों की परम्परा का परिशीलन करने पर हमें ज्ञात होता है कि विलास–संज्ञक काव्यों की रचनाकाव्य की सभी विधाओं अर्थात् रूपक,गद्य, महाकाव्य, खंडकाव्य,चम्पू आदि में हुई है।

तक्षशिला अतीत की महान धरोहर

विजय परिहार

प्राचीन भारत में गान्धार देश की राजधानी में तक्षशिला नगरी विद्या और शिक्षा के महान केंन्द्र के रूप में प्रसिद्ध थी। यहाँ का विश्वविद्यालय विश्व के प्राचीनतम विश्वविद्यालयों में शामिल है। महाभारत से ज्ञात होता है कि उपमन्यु, आरुषि तथा वेद ने तक्षशिला विश्वविद्यालय में ही शिक्षा ग्रहण की थी। महाभारत से ज्ञात होता हैं कि जनमेजय ने अपना नागयज्ञ तक्षशिला विश्वविद्यालय में ही सम्पन्न किया था। इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि उत्तर वैदिक काल में ही तक्षशिला एक प्रसिद्ध नगर के रूप में विकसित हो चुका था। देश के कोने कोने से विद्यार्थी यहाँ आकर शिक्षा ग्रहण करते थे। इनमें वाराणसी, पाटलीपुत्र, राजगृह, मिथिला, उज्जयिनी आदि नगरों के भी विद्यार्थी होते थे जो यहाँ की ज्ञान गरिमा से परिचित होने के लिए आते थे। प्राचीन काल में शिक्षा को अत्यधिक महत्व दिया गया था। भारत 'विश्वगुरु' कहलाता था। विभिन्न विद्वानों ने शिक्षा को प्रकाशस्रोत, अन्तर्दृष्टि, अन्तर्ज्योति, ज्ञानचक्षु और तीसरा नेत्र आदि उपमाओं से विभूषित किया है। उस युग की यह मान्यता थी कि जिस प्रकार अन्धकार को दूर करने का साधन प्रकाश है, उसी परकार व्यक्ति के सब संशयों और भ्रमों को दूर करने का साधन शिक्षा है। प्राचीन काल में इस बात पर बल दिया गया कि शिक्षा व्यक्ति को जीवन का यथार्थ दर्शन कराती है। तथा इस योग्य बनाती है कि वह भवसागर की बाधाओं को पार करके अन्त में मोक्ष को प्राप्त कर सके जो कि मानव जीवन का चरम लक्ष्य है।

प्राचीन भारत की शिक्षा का प्रारंभिक रूप हम ऋग्वेद में देखते हैं। ऋग्वेद युग की शिक्षा का उद्देश्य था तत्वसाक्षात्कार। ब्रह्मचर्य, तप और योगाभ्यास से तत्व का साक्षात्कार करने वाले ऋषि, विप्र, वैघस, कवि, मुनि, मनीषी के नामों से प्रसिद्ध थे। साक्षात्कृत तत्वों का मंत्रों के आकार में संग्रह होता गया वैदिक संहिताओं में, जिनका स्वाध्याय, सांगोपांग अध्ययन, श्रवण, मनन औरनिदिध्यासन वैदिक शिक्षा रही। विद्यालय 'गुरुकुल', 'आचार्यकुल', 'गुरुगृह' इत्यादि नामों से विदित थे। आचार्य के कुल में निवास करता हुआ, गुरुसेवा और ब्रह्मचर्य व्रतधारी विद्यार्थी षडंग वेद का अध्ययन करता था। शिक्षक को 'आचार्य' और 'गुरु' कहा जाता था और विद्यार्थी को ब्रह्मचारी, व्रतधारी, अंतेवासी, आचार्यकुलवासी। तक्षशिला हिन्दू एवं बौद्ध दोनों के लिये महत्व का केन्द्र था। माना जाता है कि चाणक्य यहाँ पर आचार्य थे। ऐसा लगता है कि वैदिक काल की कुछ अन्तिम शताब्दियों के पूर्व उसकी ख्याति बहुत नहीं हो पाई थी। किन्तु बौद्धयुग में तो वह विद्या का सर्वमुख्य क्षेत्र थी। यद्यपि बौद्ध साहित्य के प्राचीन सूत्रों में उसकी चर्चा नहीं मिलती तथापि जातकों में उसके वर्णन भरे पड़े हैं। त्रिपिटक की टीकाओं और अठ्ठकथाओं से भी उसकी अनेक बातें ज्ञात होती हैं। तद्नुसार बनारस, राजगृह, मिथिला और उज्जयिनी जैसे भारतवर्ष के दूर–दूर क्षेत्रों से विद्यार्थी वहाँ पढ़ने के लिये जाते और विश्वप्रसिद्ध गुरुओं से शिक्षा प्राप्त करते थे। तक्षशिला विश्वविद्यालय वर्तमान पाकिस्तान के रावलपिंडी से 18 मील उत्तर की ओर स्थित था। जिस नगर में यह विश्वविद्यालय था उसके बारे में कहा जाता है कि श्रीराम के भाई भरत के पुत्र तक्ष ने उस नगर की स्थापना की थी। यह विश्व का प्रथम विश्विद्यालय था जिसकी स्थापना सात सौ वर्ष ईसा पूर्व में की गई थी। तक्षशिला विश्वविद्यालय में पूरे विश्व के 10,500 से अधिक छात्र अध्ययन करते थे। यहाँ साठ से भी अधिक विषयों को पढ़ाया जाता था। 326 ईस्वी पूर्व में विदेशी आक्रमणकारी सिकन्दर के आक्रमण के समय यह संसार का सबसे प्रसिद्ध विश्वविद्यालय ही नहीं था, अपितु उस समय के चिकित्सा शास्त्र का एकमात्र सर्वोपरि केन्द्र था। तक्षशिला को सबसे पहले जनरल कनिंघम ने खोजा था तथा यहाँ उत्खनन 1912 में सर जॉन मार्शल के नेतृत्व में किया गया था।

तक्षशिला विश्वविद्यालय का विकास विभिन्न रूपों में हुआ था। इसका कोई एक केन्द्रीय स्थान नहीं था, अपितु यह विस्तृत भू भाग में फैला हुआ था। विविध विद्याओं के विद्वान आचार्यों ने यहाँ अपने विद्यालय तथा आश्रम बना रखे थे। छात्र रुचिनुसार अध्ययन हेतु विभिन्न आचार्यों के पास जाते थे। महत्वपूर्ण पाठयक्रमों में यहाँ वेद–वेदान्त, अष्टादश विद्याएँ, दर्शन, व्याकरण, अर्थशास्त्र, राजनीति, युद्धविद्या, शस्त्र–संचालन, ज्योतिष, आयुर्वेद, ललित कला, हस्त विद्या, अश्व–विद्या, मन्त्र–विद्या, विविद्य भाषाएँ, शिल्प आदि की शिक्षा विद्यार्थी प्राप्त करते थे। प्राचीन भारतीय साहित्य के अनुसार पाणिनी, कौटिल्य, चन्द्रगुप्त, जीवक, कौशलराज, प्रसेनजित आदि महापुरुषों ने इसी विश्वविद्यालय से शिक्षा प्राप्त की। तक्षशिला विश्वविद्यालय में

वेतनभोगी शिक्षक नहीं थे और न ही कोई निर्दिष्ट पाठयक्रम था। आज कल की तरह पाठयक्रम की अवधि भी निर्धारित नहीं थी और न कोई विशिष्ट प्रमाणपत्र या उपाधि दी जाती थी।

शिष्य की योग्यता और रुचि देखकर आचार्य उनके लिए अध्ययन की अवधि स्वयं निश्चित करते थे। परंतु कहीं–कहीं कुछ पाठयक्रमों की समय सीमा निर्धारित थी। चिकित्सा के कुछ पाठयक्रम सात वर्ष के थे तथा पढ़ाई पूरी हो जाने के बाद प्रत्येक छात्र को शोध कार्य करना पड़ता था। इस शोध कार्य में वह कोई औषधि की जड़ी–बूटी पता लगाता तब जाकर उसे डिग्री मिलती थी। अनेक शोधों से यह अनुमान लगाया गया है कि यहाँ बारह वर्ष तक अध्ययन के पश्चात दीक्षा मिलती थी। 500 ई.पू. जब संसार में चिकित्सा शास्त्र की परंपरा भी नहीं थी तब तक्षशिला आयुर्वेद विज्ञान का सबसे बड़ा केन्द्र था। जातक कथाओं एवं विदेशी पर्यटकों के लेख से पता चलता है कि यहाँ के स्नातक मस्तिष्क के भीतर तथा अंतड़ियों तक का आपरेशन बड़ी सुगमता से कर लेते थे। अनेक असाध्य रोगों के उपचार सरल एवं सुलभ जड़ी बूटियों से करते थे। इसके अतिरिक्त अनेक दुर्लभ जड़ी–बूटियों का भी उन्हें ज्ञान था। शिष्य आचार्य के आश्रम में रहकर विद्याध्ययन करते थे। एक आचार्य के पास अनेक विद्यार्थी रहते थे। इनकी संख्या प्रायरू सौ से अधिक होती थी और अनेक बार 500 तक पहुँच जाती थी। अध्ययन में क्रियात्मक कार्य को बहुत महत्व दिया जाता था। छात्रों को देशाटन भी कराया जाता था। शिक्षा पूर्ण होने पर परीक्षा ली जाती थी। तक्षशिला विश्वविद्यालय से स्नातक होना उस समय अत्यंत गौरवपूर्ण माना जाता था। यहाँ धनी तथा निर्धन दोनों तरह के छात्रों के अध्ययन की व्यवस्था थी। धनी छात्रा आचार्य को भोजन, निवास और अध्ययन का शुल्क देते थे तथा निर्धन छात्र अध्ययन करते हुए आश्रम के कार्य करते थे। शिक्षा पूरी होने पर वे शुल्क देने की प्रतिज्ञा करते थे। प्राचीन साहित्य से विदित होता है कि तक्षशिला विश्वविद्यालय में पढने वाले उच्च वर्ण के ही छात्र होते थे। सुप्रसिद्ध विद्वान, चिंतक, कूटनीतिज्ञ, अर्थशास्त्री चाणक्य ने भी अपनी शिक्षा यहीं पूर्ण की थी। उसके बाद यहीं शिक्षण कार्य करने लगे। यहीं उन्होंने अपने अनेक ग्रंथों की रचना की। इस विश्वविद्यालय की स्थिति ऐसे स्थान पर थी, जहाँ पूर्व और पश्चिम से आने वाले मार्ग मिलते थे। चतुर्थ शताब्दी ई. पू. से ही इस मार्ग से भारत वर्ष पर विदेशी आक्रमण होने लगे। विदेशी आक्रांताओं ने इस विश्वविद्यालय को काफी क्षति पहुँचाई। अंततः छठवीं शताब्दी में यह आक्रमणकारियों द्वारा पूरी तरह नष्ट कर दिया। तक्षशिला में विद्यार्थी आचार्यों के घर पर ही रहकर शिक्षा प्राप्त करते थे। ये विद्यार्थी तीन प्रकार के थे।

vkpkfj;Hkkxnkf;d%& वे विद्यार्थी जो आचार्य को शुल्क देकर शिक्षा प्राप्त करते थे आचार्य को भाग (शुल्क) देने वाले शिष्य आचार्य के घर में ज्येष्ठ पुत्र की तरह रहकर शिक्षा प्राप्त करते थे। यह शुल्क 1000 कार्षापण बताया जाता था।

/kEeZrokfld%& वे विद्यार्थी जो आचार्य को शुल्क देने में असमर्थ होते थे इन विद्यार्थियों की स्थिति धर्म शिष्य की होती थी ये आचार्य की सेवा करते हुए विद्या प्रारम्भ करते थे ये दिन में गुरु की सेवा करते थे तथा रात्रि में शिक्षा ग्रहण करते थे।

बाद में 'kYd nu oky fo|kFkh%& ऐसे शिष्य जो प्रतिज्ञा करते थे कि वे पढ़ाई समाप्त होने के बाद आवश्यक शुल्क चुका देंगे। तक्षशिला में ऐसे भी आचार्य थे जिन्हें निर्वाह के लिए राज्य की ओर से भूमि प्रदान की जाती थी वे उस भूमि की आय से विद्यापीठ चलाते थे ऐसी भूमि को ब्रह्मदेय कहा जाता था। कौटिल्य ने ऐसे अध्यापकों का उल्लेख किया है जिन्होंने राज्य की ओर से वेतन दिया जाता था उसे पूजा वेतन की संज्ञा दी गयी है। तक्षशिला में शिक्षा का माध्यम संस्कृत था और लेखन में ब्राही और खरोष्ठी दोनो लिपियों का प्रयोग किया जाता था। तक्षशिला अपने धर्मनिरपेक्ष अध्ययन के लिए प्रसिद्ध था। भारत की प्राचीन शिक्षा पद्धति में हमें अनौपचारिक तथा औपचारिक दोनों प्रकार के शैक्षणिक केन्द्रों का उल्लेख प्राप्त होता है। औपचारिक शिक्षा मन्दिर, आश्रमों और गुरुकुलों के माध्यम से दी जाती थी। ये ही उच्च शिक्षा के केन्द्र भी थे। जबकि परिवार, पुरोहित, पण्डित, सन्यासी और त्यौहार प्रसंग आदि के माध्यम से अनौपचारिक शिक्षा प्राप्त होती थी। विभिन्न धर्मसूत्रों में इस बात का उल्लेख है कि माता ही बच्चे की श्रेष्ठ गुरु है। कुछ विद्वानों ने पिता को बच्चे के शिक्षक के रुप में स्वीकार किया है। जैसे–जैसे सामाजिक विकास हुआ वैसे–वैसे शैक्षणिक संस्थाएँ स्थापित होने लगी। वैदिक काल में परिषद, शाखा और चरण जैसे संघों का स्थापन हो गया था, लेकिन व्यवस्थित शिक्षण संस्थाएँ सार्वजनिक स्तर पर बौद्धों द्वारा प्रारम्भ की गई थी। अध्यापन शैली की विशेषता यह थी कि शिष्य गुरु द्वारा पढाये गये विषयों पर चिन्तन, मनन, तर्क किया करते थे। रहस्यात्मक एवं गूढ़ विषयों को शिक्षक की सहायता से समझ लेते थे। मौखिक परीक्षा प्रणाली प्रचलित थी। वाद–विवाद, प्रश्नोत्तर द्वारा विद्यार्थियों की योग्यता एवं क्षमताओं का मूल्यांकन होता था। तक्षशिला को विश्व का प्रथम विश्वविद्यालय माना जाता हैं जहाँ से चाणक्य और पाणिनि जैसे विद्वानों से शिक्षा प्राप्त की थी गांधार नरेश के संरक्षण में इसका संचालन कई वर्षों तक चलता रहा। चार सौ ई. पूर्व में यहाँ के एक विद्वान कात्यायन ने वार्तिक की रचना की थी। माना जाता हैं कि छठी शताब्दी के अंत में अरब और तुर्क आक्रान्ताओं ने इस विश्वविद्यालय का विध्वंस कर दिया था। अफगानिस्तान के कांधार गांधार क्षेत्र तक जब तक बौद्ध धर्म था तब तक यह धरोहर बची रही मगर अरबों के आक्रमण के साथ साथ ज्यों ज्यों बौद्ध धर्म की सीमाएँ कम होती गई वहाँ खड़ी इस तरह की धरोहरे भी जमींदोज होने लगी जिसमें एक तक्षशिला विश्वविद्यालय भी था। प्राचीन भारत में जिस शिक्षा व्यवस्था का निर्माण किया गया था वह समकालीन विश्व की शिक्षा व्यवस्था से समुन्नत व उत्कृष्ट थी लेकिन कालान्तर में भारतीय शिक्षा का व्यवस्था ह्रास हुआ। विदेशियों ने यहाँ की शिक्षा व्यवस्था को उस अनुपात में विकसित नहीं किया, जिस अनुपात में होना चाहिये था।

भारतीय परंपरा और यक्षिण

ईशान अवस्थी

भारतीय इतिहास की चर्चा के संदर्भ में भारतीय मूर्तिकला की चर्चा अपरिहार्य सी हो जाती है। सिंधु घाटी सभ्यता से लेकर आज तक की मूर्तिकला को समझे जाने बिना भारतीय इतिहास और समाज को जानना समझना असंभव सा है। आदिकाल से अपने यहाँ समाज के देव पूजक होने के कारण विभिन्न देवी देवताओं की प्रतिमाएँ यहाँ बनती रही हैं। यह भी देखा गया है कि किसी विशेष कालखंड या क्षेत्रविशेष में अलग–अलग देवी देवताओं को महत्ता दी जाती रही है। यानी एक समय में जो देवता किसी समय अतिमहत्वपूर्ण माने जाते रहे हैं कालांतर में उसी समाज के द्वारा गौण भी कर दिए गए। उदाहरण के लिए अपने यहाँ कभी ब्राह्मा का पूजन प्रचलित था, किन्तु आज उसे एक तरह से अपूजतय माना जाने लगा है। उसी तरह जिस कामदेव के मन्दिरों और उत्सवों के उल्लेख प्राचीन साहित्य में मिलते हैं एवं जिसकी मूर्तियाँ भी शुंगकला में उपलब्ध थी आज लगभग लुप्त हो गयी है। यही नहीं कुछ ऐसे देवी देवता भी हैं जिनका उल्लेख जैन, बौद्ध और हिन्दू या सनातन धर्म में तो हैं लेकिन कहीं बदले हुए नामों व रूपों में इन्हीं में से एक है यक्ष यक्षणी की परंपरा भी। जिसका उल्लेख इन तीनों संप्रदायों में बहुतायत में तो है ही इनकी प्रतिमाएँ भी तीनों धर्म से जुड़े मंदिरों या उपासना स्थलों में उपलब्ध हैं। साथ ही इन तीनों धर्मों के उल्लेख प्राचीन पुस्तकों में उपलब्ध है। यक्षणी प्राचीन भारत के स्त्री सौंदर्य वाले आदर्श मानकों का प्रतीक गढ़ती है। उसकी आकृति पूर्ण वक्षप्रतिमा, पतली कमर तथा व्यापक नितंब के साथ कामुक है। ग्रीवा त्रिवाली–कमर पर मांशलता के बलन के रूप में सुंदरता की अधिक असामान्य लेकिन निर्धारित मानदंड के रूप में शामिल है। शायद, इस मूर्ति के बारे में जो सबसे अनोखी बात है, एक स्पष्ट रूप से आकर्षक विशेषताएँ समाहित कर लिये जाने के बाद, वह है–एक सुंदर तरीके से उसकी बेहतरीन अभिव्यक्ति, जिसकी भाव–भंगिमा हमें मोह लेती है। यक्षी विनम्रता की मांग करती हुई सीधे खड़े होने के बजाय आगे की ओर थोड़ी झुकी हुई है। उसके होंठों की मुस्कान पकड़ में नहीं आने वाली, फिर भी हमेशा यादों में कघयम रहने वाली बेहद प्यारी मुस्कुराहट है। उसके दाहिने पैर का डिजाइन थोड़ा झुका हुआ है, मानों ऐसा उसके हाथ से पकड़ी गई हल्की सी कूची तथा चौरी पर उसकी पकड़ की दृढ़ता के कारण हो, जो उसकी सूक्ष्मता में अभिव्यक्ति की विनम्रता को दिखाता है। यह एक गोल आकृति वाली मूर्ति है, जिसका मतलब है कि इसे किसी भी कोण से देखा–निहारा जा सकता है। इसकी खोज के बाद, इतिहासकार के सामने सबसे बड़ी चुनौती इसकी तिथि के निर्धारण को लेकर थी। इसकी कलाकृति, इस्तेमाल किये गए पत्थर, शिल्प शैली को लेकर इसे किस युग में रखा जाए? पोलिश की उच्च चमक और यक्षी के अलौकिक गुणों से, भरहुत में पाये जाने वाले बौद्ध स्तूप की रेलिंग समतुल्य इस मूर्ति के बारे में आर.पी. चंद्रा का निष्कर्ष है कि यह अशोककालीन कला शाखा के विदेशी उस्तादों में से मगध कलाकारों द्वारा शास्त्रीय सीख के परिणाम को दर्शाती है। जे.एन. बनर्जी मौर्यकाल के रूप में चमक के साथ इस प्रकार की गोल आकृति वाली सभी मूर्तियों को वर्गीकृत करते हैं तथा इसे पहली सदी के आस–पास या इससे पहले की ठहराते हैं। निहार रंजन रे इसे यक्षिणी कहना पसंद करते हैं, क्योंकि वो ऐसा मानते हैं कि इसकी शैली दूसरी शताब्दी के पहले की मथुरा यक्षियों से संबंधित हो सकती है। यद्यपि, इसका शाही आचरण मौर्य कालीन एक ही पत्थर से बनी आकृतियों से मिलता जुलता है। इस तरह मतों के विस्तार क्षेत्र को देखते हुए कहा जा सकता है कि यह मूर्ति शायद मौर्यकाल के आस–पास की है। वर्षों तक धरती में दफ्न होने के कारण इसे नुकसान भी पहुँचा। बायीं बांह नहीं है तथा यक्षी की नाक खपची है। इस टूट–फूट के बावजूद लँबे समय के गुजर जाने के बाद भी यह मूर्ति रोमांच और जादू पैदा करती है तथा यह मूर्ति इस बात की आकर्षक उदाहरण है कि हजारों साल पहले शिल्पकला कितनी उन्नत थी। ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में, यक्ष–यक्षिणियों और पशुओं की विशाल मूर्तियाँ बनाई गईं, शीर्षाकृतियों वाले प्रस्तर स्तम्भ बनाएँ व स्थापित किए गये और चट्टानों को काटकर गुफाएँ बनाई गईं। इनमें से अनेक स्मारक आज भी मौजूद हैं, जिनसे यक्ष पूजा की लोकप्रियता का पता चलता है और यह भी जाना जा सकता है कि यक्ष पूजा आगे चलकर किस तरह जैन धर्म और बौद्ध धर्म के स्मारकों में आकृति प्रस्तुतीकरण का अंग बनी। पटना, विदिशा और मथुरा जैसे अनेक स्थलों पर यक्षों तथा यक्षिणियों की बड़ी–बड़ी मूर्तियाँ पाई गई हैं। ये विशाल प्रतिमाएँ अधिकतर खड़ी स्थिति में दिखाई गई हैं। इन सभी प्रतिमाओं में एक विषेश तत्व इनकी सतह पॉलिश की हुई यानी चिकनी है।

• महाराजा विक्रमादित्य फैलोशिप •

महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ द्वारा स्थापित तथ्यपूर्ण प्रामाणिक शोधकार्य के लिए वर्ष 2022-23 में
भारतीय नागरिकों से उल्लिखित विषयों में से सीनियर और जूनियर फैलोशिप के लिए प्रस्ताव आमंत्रित हैं-

महाराजा विक्रमादित्य सीनियर फैलोशिप प्रत्येक अध्येता राशि रूपये 4,80,000/-

किन्हीं5 विषयों पर सीनियर फैलोशिप प्रदान की जायेगी। अवधि- 1 वर्ष

1. विक्रमादित्य और पुरातत्व
2. विक्रमादित्यकालीन अभिलेखों का विश्लेषणात्मक अध्ययन
3. प्राचीन भारत में लोक प्रशासन
4. विक्रमादित्य की शासन पद्धति के विभिन्न आयाम
5. जैनेत्तर संस्कृत वांग्मय में विक्रमादित्य
6. वृहत्तर भारत में विक्रमादित्य के साहित्यिक साक्ष्य
7. प्राचीन भारत में वैज्ञानिक अनुसंधान और उनका आधुनिक विज्ञान में योगदान, वैदिक और अगम स्त्रोतों की समीक्षा
8. पुरातत्व और कला संस्कृति में शिवत्व तथा शिवतत्व
9. सूर्य सिद्धांत रहस्य
10. वैदिक समाज में ऊर्जा व्यवस्था और उसके प्रयोग
11. स्वास्थ्य एवं समृद्धि में ज्योतिष विज्ञान के उपयोग
12. पारंपरिक ज्ञान और मानव विज्ञान
13. भारतीय ज्ञान परंपरा का वैश्विक योगदान

महाराजा विक्रमादित्य जूनियर फैलोशिप प्रत्येक अध्येता राशि रूपये 4,32,000/-

किन्हीं 6 विषयों पर जूनियर फैलोशिप प्रदान की जायेगी। अवधि- 1 वर्ष

1. अवंति जनपद में संवत् प्रवर्तक विक्रमादित्य की जनस्तुतियाँ
2. विक्रमादित्ययुगीन आर्थिक स्थिति
3. प्राचीन भारत में (मध्यप्रदेश के विशेष संदर्भ में) युगयुगीन चरित्र
4. प्राचीन भारत में यंत्र विज्ञान
5. जैन परंपरा में विक्रमादित्य
6. प्राचीन भारतीय स्थापत्य कला
7. प्राचीन भारतीय मंदिर स्थापत्य

पात्रता

■ **सीनियर फैलोशिप (न्यूनतम आयु 35 वर्ष, 1 अप्रैल 2022 की स्थिति में)** -

1. दर्शन, इतिहास, सामाजिक विज्ञान, मानविकी विधाओं, साहित्य अथवा कलाओं में से किसी एक विषय में पीएच.डी. अथवा 2. इतिहास, शिक्षा, संस्कृति, दर्शन या भारतीय साहित्य में अपने योगदान के द्वारा प्रतिष्ठित विद्वान अथवा 3. विश्वविद्यालयीन/महाविद्यालयीन प्राध्यापक अथवा राष्ट्रीय/राज्य स्तरीय ख्याति प्राप्त विद्वान या ऐसे लेखक, संपादक, पत्रकार जिनकी ऊपर संदर्भित विषयों पर दो से अधिक पुस्तकें प्रकाशित या चर्चित हो चुकी हैं, पात्र होंगे। 4. फैलोशिप संबंधित क्षेत्र में विशेष उपलब्धि अर्जित करने अथवा विशेषीकृत अनुसंधान का अनुभव रखने वाले आवेदक को प्राथमिकता दी जायेगी।

■ **जूनियर फैलोशिप (अधिकतम आयु 50 वर्ष, 1 अप्रैल 2022 की स्थिति में)** -

1. दर्शन, इतिहास, सामाजिक विज्ञान, मानविकी विधाओं, साहित्य अथवा कलाओं में से किसी एक विषय में पीएच.डी. उपाधिधारी भी आवेदन कर सकते हैं अथवा 2. कोई युवा/उदीयमान स्तरीय लेखक, पत्रकार, जिनके लेख चर्चित हो चुके हों, भी पात्र होंगे। अथवा 3. संबंधित क्षेत्र में विशेष उपलब्धि अर्जित करने अथवा विशेषीकृत अनुसंधान का अनुभव रखने वाले आवेदक को प्राथमिकता दी जायेगी।

आवेदन-पत्र का प्रारूप

1. नाम 2. स्थायी पता 3. जन्म तिथि 4. जन्म स्थान 5. पासपोर्ट आकार के दो फोटोग्राफ 6. भारत में निवास की अवधि 7. रोजगार की स्थिति 8. शोध प्रस्ताव (सीनियर- लगभग 2500-3000 शब्दों में कम्पोज किया हुआ, जूनियर- लगभग 500-1000 शब्दों में कम्पोज किया हुआ) 9. फैलोशिप की अवधि में किये जाने वाले कार्य का शीर्षक एवं विवरण 10. सम्बन्धित क्षेत्र में योगदान एवं अनुभव 11. ऐसे दो सम्मानित विद्वानों के संदर्भ (नाम एवं पता) जिन्हें नामांकित व्यक्ति की योग्यता/कार्य की जानकारी हो।

आवेदन-पत्र भेजने की अंतिम तिथि- 30 अप्रैल 2023

आवेदक को अपना आवेदन 30 अप्रैल 2023 तक निदेशक, महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ, 1 उदयन मार्ग, उज्जैन- 456010, दूरभाष- 0734-2521499 अथवा सचिव, महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ, स्वराज संस्थान संचालनालय, रवीन्द्र भवन परिसर, भोपाल- 462003, दूरभाष- 0755-2990794, 2660563, 2660407, 2660361 को आवश्यक रूप से भेजे जायें। अधिक जानकारी एवं फैलोशिप से जुड़े नियम व शर्तों के लिए वेबसाइट पर जायें।

स्वराज संस्थान संचालनालय
महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ
संस्कृति विभाग, मध्यप्रदेश शासन
E-Mail : vikramadityashodhpeeth@gmail.com, **Website** : www.mvspujjain.com, www.swarajsansthan.org

महाराजा विक्रमादित्य शोध पीठ, स्वराज संस्थान संचालनालय, संस्कृति विभाग, मध्यप्रदेश शासन के लिए
1, उदयन मार्ग, उज्जैन-456010 से प्रसारित. सम्पादक : श्रीराम तिवारी, समन्वयक : राजेश्वर त्रिवेदी.
आलेख सेवा निःशुल्क वितरण के लिए. फोन: 0734-2521499, 0755-2660407 Email:mvspujjain@gmail.com, vikramadityashodhpeeth@gmail.com